RESEARCH PAPER

RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
e-ISSN: 2455-3085 | Vol.06 | No.12 | December 2021 | pp. 152-158
Double-Blind Peer Reviewed/Refereed Journal

The form of Purushartha Prestige and its importance in Indian society

भारतीय समाज में पुरुषार्थ प्रतिष्ठा का स्वरूप एवं उसका महत्त्व

Dr. Nirma Meena

Department of Sanskrit, University of Rajasthan, Jaipur

Abstract in English

Dharma, Artha, Kama and Moksha. The power to edit them exists only in men. Not all living beings can edit it. The rise of human personality has been possible only through effort. Purushartha contributed in different parts of his life and due to his coincidence, the person became ideal. Man performs his actions and duties with the help of effort and through this he is able to perform his various responsibilities faithfully.

Keywords: *Purushartha, subtle body, gross body, asceticism, mental satisfaction*

Abstract in Hindi

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनके सम्पादन करने की शक्ति केवल पुरुष में ही विद्यमान है। सभी जीव इसका सम्पादन नहीं कर सकते। मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष पुरुषार्थ से ही सम्भव रहा है। उसके जीवन के विभिन्न भागों में पुरुषार्थ का ही योगदान रहा तथा उसके संयोग से व्यक्ति आदर्श बनता रहा। मनुष्य अपने कर्मों और कर्त्तव्यों का सम्पादन पुरुषार्थ के सहयोग से करता है तथा इसी के माध्यम से अपने विविध उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक कर सकने में समर्थ होता है।

मुख्य शब्द: *पुरुषार्थ, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, तपस्विनी, मानसिक संतुष्टि।*

Article Publication

Published Online: 15-Dec-2021

***Author's Correspondence**

Dr. Nirma Meena

Research Scholar (History Department of Sanskrit, University of Rajasthan, Jaipur

raj126jareda@gmail.com

© 2021The Authors. Published by RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary. This is an open access article under the CC BY-NC-ND license (https://creativecommons.org/licenses/by-nc-nd/4.0/)

मनुष्य का सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक पुरुषार्थ से ही होता है। इसके अंतर्गत व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। भारतीय विचारकों का यह जीवन दर्शन है जिसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है बंधन है मुक्ति की कामना है साधना भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ आदर्श व्यक्तित्व या जीवन का प्रतीक है। पुरुषार्थ व्यक्ति को अर्थ और काम का डटकर मुकाबला करने, कर्त्तव्यों की पालना करने तथा जीवन के उच्चतम आदर्शों को प्राप्त करने के लिए संदेश देते हैं।

डॉ. प्रभु के अनुसार पुरुषार्थ मानसिक संतोष प्रदान करता है। व्यक्ति धर्म, अर्थ व काम की पूर्ति के द्वारा मानसिक संतुष्टि प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति की ओर बढ़ता रहता है। भासकालीन समाज में पुरुषार्थ मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे जो हमें अनेक नाटकों से ज्ञात होता है।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्।।[1]

पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए उत्पन्न और कार्यरत यह सूक्ष्म शरीर धर्म–अधर्म आदि निमित्त का कारण और स्थूल शरीर का ग्रहण रूपी नैमित्तिक या कार्य के प्रसंग या सम्बन्ध की परम्परा से प्रकृति के व्यापक होने के कारण नट के समान व्यवस्थित होता या व्यवहार करता है अर्थात् विविध रूपों को धारण करता है। जैसे–नट अनेक प्रकार की वेशभूषा धारण करके परशुराम, युधिष्ठिर या उदयन आदि बन जाता है उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी अनेक प्रकार के स्थूल शरीर ग्रहण करके देव, मानव, पशु तथा वृक्षादि बनता रहता है।[2]

धर्म का स्वरूप

धर्म शब्द अनेक परिवर्तनों और विपर्ययों के चक्र में घूमता रहा है अतएव इसके प्रयोग भी भिन्न–भिन्न अर्थों में होते रहे हैं। ऋग्वेद में धर्म शब्द विशेषण या संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में धर्म शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है तो कहीं नपुंसकलिंग में हुआ है। अधिकतर धर्म शब्द ऋग्वेद में धार्मिक विधियों या धार्मिक क्रिया–संस्कारों के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कहीं–कहीं ऋग्वेद में 'धर्म' का अर्थ निश्चित नियम या आचरण नियम भी है। अथर्ववेद धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है।

वेद धर्म का मूल है–'**वेदो धर्ममूलम्' ।**[3] जो धर्मज्ञ है, जो वेदों को जानते हैं, उनका मत ही धर्म प्रमाण है –

'धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च' ।[4]

मनुस्मृति के अनुसार धर्म के उपादान – प्रमाण पांच हैं –

वेदो•खिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैवसाधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।[5]

सम्पूर्ण वेद, वेदशास्त्र जानने वालों के रचे हुए धर्मशास्त्र स्मृतियां, वेदवेत्ताओं के मन की स्वाभाविक प्रवृत्तिशील, वेदवेत्ता, साधुओं, शिष्टजनों का आचार और वेदज्ञ शिष्टजनों के मन का सन्तोष – ये सब धर्म के प्रमाण हैं। वेदशास्त्र के ज्ञाता महात्मा पुरुषों का आचरण भी धर्म में प्रमाण है। धर्म और अधर्म अर्थात् पुण्य और पाप इन दोनों का सम्मिलित नाम है अदृष्ट। कहा भी गया है कि– 'न दृश्यते इति अदृष्टम्'।

धर्म ही जगत का आधार है। प्रत्येक व्यक्ति के निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों तरह की उन्नति धर्म से ही संभव हैं। धर्म ही इस विश्व का आधार हैं श्रुति कहती हैं –

धर्मो विष्वस्य जगतः प्रतिष्ठा
लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्
तस्माद् धर्म परमं वदन्ति।।[6]

सम्पूर्ण जगत का आधार एकमात्र धर्म है। समस्त प्रजा धार्मिक के पास, अपने–अपने संशयों को लेकर निवृत्त करने के लिए आती है । धर्म से ही पाप की निवृत्ति होती है। इसलिए विश्व में सबसे श्रेष्ठ तत्त्व धर्म है। चाणक्य के अनुसार धर्म हैं–

''धर्मेण धार्यते लोकः'' ।[7]

निरालम्बानिराधारा विष्वाधारो वसुन्धरा
यच्चावतिष्ठतेतत्र धर्मादन्यन्न कारणम्।
आप्लावयति नाम्भोधि राप्वासयति चाम्बुदः
यन्महो स प्रभावोऽयं ध्रुवं धर्मस्य नेतरः।।[8]

धर्म से विपरीत फल देने वाला अधर्म हैं। अधर्म को पाप या पातक भी कहते हैं। धर्म और अधर्म का संयुक्त नाम हैं अदृष्ट। मनुष्य के चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण अधर्म को 'अदृष्ट' कहते हैं –

''न दृष्यते, इति अदृष्टम्।''[9]

महापुराण में वर्णन आता है –

स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात् सन्धारयेन्नरम्।
धत्ते चाभ्युदयस्थाने निरपायसुखोदये।।[10]

महाभारत में कहा है –

धनानि स्रौति धर्मो, हि धारणाद् वेति निष्चयः।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः।।[11]

निष्कर्षतः धर्म के मूल उपादान वेद, स्मृतियाँ और परम्परा से चला आया हुआ शिष्टाचार यदि कदापि धर्म के ज्ञापक और कारक हेतुओं में सन्देह होने लगे तो सन्देह निवारण के लिए चारों वेद और धर्मशास्त्र के ज्ञाता चार पुरुषों या तीन विद्याओं

ऋग्, यजुः और साम के ज्ञाता। तीन पुरुषों की जो परिषद् होती है वह जो कहे सो धर्म में प्रमाण है, अथवा अध्यात्मविद्या में निपुणतम एक व्यक्ति भी जो कहे वह धर्म में प्रमाण है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है–

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविधमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाध्यात्मवित्तमः।।[12]

अर्थ का स्वरूप

इस पुरुषार्थ से मनुष्य के इस लोक और परलोक के समस्त प्रयोजनों की प्राप्ति होती हैं–

''यतः सर्वप्रयोजन सिद्धिः सोऽर्थः।''[13]

महर्षि चाणक्य के अनुसार – ''अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः।''[14]
अर्थ का मतलब है–अभिलाषित वस्तु। अतः अर्थ को सभी प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए उसका 'अर्थ' नाम भी सार्थक हैं– ''अर्थ्यते सर्वैः इति अर्थः'' ।[15]

अर्थात् जिसको प्राप्त करने की अभिलाषा सब करते है, उसको अर्थ कहते हैं। सुख–समृद्धि का मूल है– धर्म, धर्म का मूल होता हैं – अर्थ ।

''सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलम् अर्थः।''[16]

इसीलिए महर्षि कौटिल्य ने त्रिवर्ग में 'अर्थ' को ही प्रधान मानकर उसे धर्म और काम का मूल बताया हैं–

अर्थ एवं प्रधानः इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ ही धर्मकामाविति।[17]

इससे प्रणियों की आजीविका का निर्वाह होता हैं। अतः अर्थ पर ही सबका जीवन निर्भर हैं। अर्थ का मूल हैं– वृत्ति अर्थात् आजीविका। अर्थ पर ही धर्म और काम निर्भर हैं–

''वृत्तिमूलम् अर्थः अर्थमूलौ धर्म कामौ।''[18]

इस दृष्टिकोण से भूमि, धन, द्रव्य, विद्या, कला, कृषि, पशुपालन आदि आजीविका सम्बन्धी प्रयोजन की सभी वस्तुओं को अर्थ (अर्थ जीविकोपकरणम्) कहा जाता हैं। इसलिए महर्षि वात्स्यायन ने अर्थ की बड़ी व्यापक परिभाषा की हैं। उन्होंने कहा हैं कि –

विद्या भूमि हिरण्य पषुधनधान्य शाण्डोपस्कर
मित्रावीनाम् अर्जनम् अर्जितस्य च विवर्धनम् अर्थः।[19]

महर्षिशुक्राचार्य ने कहा हैं –

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धौर्यं च पञ्चमम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्ति हि तैर्बुधाः।।[20]

अर्थ का मूल हैं वार्ता। महाभारत में वर्णन आता हैं कि –

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रषस्यते।
कृषि वाणिज्य गोरक्ष्यं शिल्पानि विविधानि च।।[21]

अर्थशास्त्र का मत हैं कि इस शब्द का मुख्य अर्थ 'पृथिवी' हैं। महर्षि कौटिल्य ने कहा हैं–

मनुष्याणां वृत्तिः अर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।[22]

शुक्राचार्य ने कहा है –

खनिः सर्वजनस्येयं देव दैत्यविमर्दिनी
भूम्यर्थे भूमिपतयः स्वात्मानं नाषयन्त्यपि।
उपभोगाय च धनं जीवितं येन रक्षितम्।
न रक्षिता तु भूर्येन किं तस्य धनजीवितैः।।[23]

शास्त्रो में अन्न को भी अर्थ कहा गया हैं –

''न हि धान्यसमो ह्यर्थः। न क्षुधासमः शत्रुः।''[24]

उपनिषदों में इस विषय में कहा हैं – 'अन्नं बहु कुर्वीतः'। अर्थात् अन्न को बढ़ाना चाहिए। अन्न का साधन कृषि हैं । इसीलिए कृषिशास्त्र के मर्मज्ञ महर्षि पाराशर ने कहा है कि –

कृषावुत्पाध धान्यानि खलयज्ञं सामाव्य च
सर्वसत्वहिते युक्तं इहामुत्र सुखी भवेत् ।
कृषेरन्यत्रनो धर्मो न लाभः कृषितोऽन्यतः
सुखं न कृष्तिोऽन्यत्र यदि धर्मेण वर्तते ।।[25]

काम का स्वरूप

काम के बिना प्राणियों की उत्पत्ति जीवन निर्वाह एवं सुख की प्राप्ति ही असम्भव है–'काम्यते इति कामः'।

अर्थात् विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क से होने वाला मानसिक आनन्द ही मुख्यतया काम कहा जाता है। शरीर की प्रत्येक इन्द्रियों का प्रधान कर्त्तव्य हमारे आवश्यक कार्यों में हमारी सहायता करना होने पर भी उसके साथ ही हमारी प्रत्येक इन्द्रिय को अपने–अपने सम्पर्क से एक–एक निजी सुखानुभव भी प्राप्त होता हैं। देखने के लिए बने हुए नेत्र सुन्दर वस्तु को देखकर रूप के आनन्द का अनुभव करते हैं। सुनने के लिए बने हमारे श्रोत्र मधुर संगीत सुनकर शब्द का आनन्द लेते हैं। क्षुधा शान्ति के लिए किये जाने वाले भोजन में हमारी रसनेन्द्रिय, आहार के स्वाद को ग्रहण करते समय रस के आनन्द का अनुभव करती है ऐसे ही सूंघने के लिए बनी हुई हमारी नासिका इन्द्रिय सुन्दरगन्ध को ग्रहण करती हुई उसका आनन्द लेती हैं। स्पर्श ज्ञान के लिए बनी हमारी त्वचिन्द्रिय निद्रा के समय सुन्दर शय्या के मार्दव का अनुभव करती हुई सुख का रस लेती हैं और सन्तान प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले गृहस्थाश्रम के जीवन में गृहयेन्द्रिय अपने विषय का आनन्द लेती हैं।

आंख, कान, नासिका, रसना और त्वचा इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपने प्रधान उद्देश्य को सम्पन्न करते समय, रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श इन पाँच विषयों के सम्पर्क से मिलने वाले मानसिक आनन्द को ही काम कहते हैं। यह काम प्राणियों को पुण्य कर्मों का उत्तम फल हैं –

इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरूपजायते।
स काम इतिमे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम।[26]

यह काम चित्त का संकल्प माना गया हैं। इसका स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म हैं। अतएव यह केवल अनुभवगम्य हैं। इसीलिए महाभारत के वनपर्व में कहा है कि–

द्रव्यार्थस्पर्षसंयोगे या प्रीतिरूपजायते।
स कामाश्चित्तसंकल्पः शरीरं नास्य दृष्यते।।[27]

स्रक चन्दनः वनिता आदि प्रिय पदार्थों के स्पर्श और सुवर्णादि धन का संयोग होने पर मन में जो एक विशेष प्रीति उत्पन्न होती हैं वह चित्त का संकल्प ही काम हैं जो दिखलायी नहीं पड़ता। श्रुति में कहा हैं–

''एतस्यैवानन्दस्य अत्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।''[28]

उदाहरण के तौर पर दही का सार मक्खन हैं, उसी प्रकार धर्म और अर्थ का सार 'काम' हैं। जैसे खली से श्रेष्ठ तेल हैं, तक्र से श्रेष्ठ धृत हैं और वृक्ष के काष्ठ से श्रेष्ठ उसका फूल और फल है उसी प्रकार धर्म और अर्थ से श्रेष्ठ काम हैं –

नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः।
श्रेयस्तैलं हि पिण्याको धृतं श्रेय उदश्वितः।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात्कामो धर्मार्थयोर्वरः।[29]

इस रीति से इन्द्रियों का अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले विषय सुखोपभोग आनन्द को ही काम कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस काम को प्राप्त करने के लिए लोग जिन–जिन अभिलाषित वस्तुओं की इच्छा करते हैं इस प्रसिद्धि के अनुसार शरीर और इन्द्रियों के उपयोग में आने वाली स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, धन–धान्य, फल–फूल, भक्ष्य–भोजन, लेह्य–चोष्य, पेय, नृत्य,

गीत, वस्तु–अलंकार आदि जो शरीर और इन्द्रियों के उपयोग– ऐहलौकिक और पारलौकिक अभिलाषित पदार्थ है उनको भी काम कहते हैं। इसी व्युत्पत्ति के अनुसार, अणिमा आदि सिद्धियों को भी काम कहते हैं।

महर्षि वात्स्यायन ने कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के दूसरे अध्याय में सामान्य और विशेष का निरूपण करते हुए कहा है कि– पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषयों में से अपनी–अपनी प्रकृति के अनुकूल जो प्रीतिकर पदार्थ हैं, उनके अनुभव की इच्छा सामान्य काम हैं। पतंग के रूप, मीन को रस, भ्रमर को सुगन्ध, हरिण को गीत और मातंग को स्पर्श अधिक प्रिय होते हैं किन्तु मनुष्य को पाँचों इन्द्रियों के ये पाँचों विषय प्यारे हैं। तथापि प्रत्येक मनुष्य को किसी एक इन्द्रिय का विषय अधिक प्रिय होता हैं। जिह्वा रस तो प्रायः सभी को रहता ही हैं। जगद्गुरू महर्षि व्यास ने कहा हैं –

लोके व्यावायाभिष मद्यसेवा नित्यास्तु जन्तार्न हि तत्र चोदना।
व्यस्थितिस्तासु विवाह यज्ञ सुराग्रहैरासु निवृत्ति ष्लिष्टाः।।[30]

भगवान कृष्ण ने कहा है–

उत्यत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्त– मनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु।।[31]

तत्त्वज्ञान के लिए जिस प्रकार जीवन अत्यन्त अपेक्षित है उसी प्रकार जीवन के लिए नितान्त उपयोगी होने से काम भी अत्यन्त अपेक्षित है इसलिए महर्षि व्यासदेव ने कहा हैं कि–

धर्मार्थकाम मोक्षाणां प्राणाः सस्थिति हेतवः।
तन्निध्नता किं न हतं रक्षता कि न रक्षितम्।।[32]

अतएव तत्त्वज्ञान के उपयोगी मनुष्य जीवन को स्वस्थ, सुखी एवं सुरक्षित रखकर, तत्त्वज्ञान के अनुकूल बनाये रखना काम का मुख्य फल हैं । और इन्द्रिय प्रीति उसका गौण फल हैं।

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लालो जीवेत यावता।
जीवनस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यष्चेह कर्मभिः।।[33]

अर्थात् काम (विषयों के उपभोग) का फल इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं उसका प्रयोजन केवल जीवन निर्वाह हैं क्योंकि विषयों के सेवन से इन्द्रियां कभी भी तृप्त नहीं हो सकती। अतः जितना विषय–सेवन करने से अपना स्वास्थ्य ठीक बना रहे, उतना ही काम (विषय) करना चाहिए अर्थात् रसना से उतना ही रस का सेवन करना चाहिए कि जितना देखने से स्वास्थ्य ठीक रहे। इसी तरह नाक आदि इन्द्रियों से भी उतना ही गन्ध आदि विषय का सेवन करना चाहिए जितने से कि अपना स्वास्थ्य ठीक बना रहे। इस तरह काम का फल जीवन निर्वाह हैं और जीवन का फल हैं– तत्त्वजिज्ञासा अर्थात् उच्चकोटि के तत्त्व का चिन्तन करना। बहुत प्रकार से कर्म करके स्वर्गादि को प्राप्त करना उसका फल नहीं। अतः जीवन धारण के द्वारा तत्त्वज्ञान में उपयोगी होने के कारण काम को भी एक पुरुषार्थ माना गया है। अतः शरीर स्थिति का, जीवन का भी मूल होने के कारण–

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।[34]

इस लोक के अनुसार जीवन के लिए काम भी अत्यन्त उपादेय है। क्योंकि काम के बिना किस का प्राणधारण नहीं हो सकता। विरक्त को भी देह करने के लिए काम की आवश्यकता होती है। देखना, सुनना यति के लिए भी अनिवार्य है। इस प्रकार जीवन निर्वाह में उपयोगी धर्मविरूद्ध काम भी मोक्ष में सहायक हैं। अतः ऐसे काम को मोक्ष प्राप्त होता हैं। अनुचित रीति से उचित मात्रा में, सेवन करने से ही मनुष्य काम से लाभन्वित हो सकता है। नहीं तो अनुचित रीति से, केवल इन्द्रियों की तृप्ति के उद्देश्य से किया जाने वाला कामोपभोग मनुष्य को लक्ष्य भ्रष्ट भी कर देता हैं।

मोक्ष का स्वरूप

विश्व में दो प्रकार की प्रवृत्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रथम दुःखों को दूर करने की प्रवृत्ति, द्वितीय सुखों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति। भारतीय साहित्य में मुक्ति की धारणा का आधार इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों की शीतलता हैं। हम साधारणतः दुःखों की इच्छा न करते हुए अपने सुख की वृद्धि करना चाहते हैं। जो इस विश्व में मिलने वाले शब्द स्पर्श आदि के विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले सुख हैं वे प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु उनकी अन्तिम अवधि ज्ञान नहीं हैं। जो प्राप्त सुख अनुभव किये जा रहे हैं उनमें भी न्यून–अधिक का निर्णय करना भी कठिन प्रतीत होता हैं। कोई शब्द में सुख, कोई रूप में सुख

अधिक अनुभव करता है। अतः लोक में रुचियाँ भिन्न–भिन्न प्रकार की हैं। हम इससे इस निष्कर्ष पर आते है कि सुख विशेष का न्यून या अधिक होना भोक्ता पर अवलम्बित है। दुःख की निवृत्ति दो प्रकार की हैं –

1. वर्तमान दुःख की निवृत्ति।
2. भावी दुःख की निवृत्ति।

इसमें से दूसरी अवधि बलवान हैं, क्योंकि यह इस वर्तमान कालिक दुःख की अपेक्षा अधिक बलशाली दृष्टिगोचर होता है क्योंकि उपरोक्त प्रथम दुःख की निवृत्ति तो भोगरूढ़ है, इसलिए सहन कर लिया जाता हैं। अतएव महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि जो भविष्यत् काल में आते है वे त्याज्य हैं। चार्वाक तथा अन्य जड़वादी दार्शनिक केवल लौकिक सुखों को ही अन्तिम मान उसकी प्राप्ति को ही पुरुषार्थ मानते है। परन्तु अनुभव से यह सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य होने के कारण सांसारिक सुखों से भी आगे जो सबसे बड़ा जन्म मरण का दुःख है उससे छूटना चाहते हैं। क्योंकि सांसारिक भोगों में तो अन्त में दुःख ही छिपा रहता हैं।

मोक्ष में गीता को परमधाम या परमपद कहा गया हैं । इस परमपद का अर्थ एक ऐसी अवस्था है जिसमें कर्त्तव्य, जागृत्व और भोगकृत्व शक्तियों की पराकाष्ठा हो जाती हैं। सांसारिक समस्त बन्धन छूट जाते है व समस्त संशय समाप्त हो जाते हैं। जन्म–मरण का चक्र छूट कर मनुष्य परमधाम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं। उपनिषदों में व षड्दर्शनों में और वैदिक साहित्य में मुक्ति को कोई स्थान विशेष नहीं अपितु जीवात्मा की पराकाष्ठा हैं। यह ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी है उसको प्राप्त करके जन्म–मरण के बन्धनों से छूट कर जीवात्मा स्वतन्त्र विचरता है। नास्तिक दर्शनों में जैन और बौद्ध जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नही रखता वह भी मोक्ष स्वीकारता हैं, जैनों में मिथ्या दर्शन बन्धन का कारण हैं। उनका निरोध संवर कर लेने पर तथा नये कर्मो का अभाव होकर निर्जरा रूपी कारण के सम्पर्क से पूर्वार्जित कर्मों का विनाश हो जाता हैं। जैन आचार्य पदमनन्दी कहते हैं कि सूर्य चन्द्रादि ग्रह तो जाकर लोट आते हैं परन्तु लोक से परे जो आकाश है उसमें मोक्ष में गयी हुई आत्मा तक नहीं लौटी।

मीमांसकों के अनुसार मोक्ष की अवस्था में धर्म और अधर्म इन दोनो का सम्बन्ध नही रहता। इस पर अन्य विचारकों की आपत्ति है कि मुक्तावस्था में जब सब धर्म नष्ट हो जाते है तो मुक्त व्यक्ति को किसी प्रकार के आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। इसका उत्तर इस प्रकार देते है कि मुक्तावस्था में न आनन्द का अनुभव होता है न ज्ञान का।

न्यायदर्शन मोक्ष को पूर्णाभाव की अवस्था मानता हैं। भाष्यकारों ने कहा है कि दुःख से मनुष्य तभी छूटता है जबकि वह ग्रहण किये हुए जन्म को छोड़ देता हैं। सुख की अवस्था मुक्ति में ये मुक्तियुक्त नहीं मानते हैं। वहाँ नित्य सुख की प्राप्ति होती है, यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार नित्य सुख की अभिव्यक्ति में कोई हेतु होना चाहिए यदि वह सुख नित्य होगा तो सदैव प्राप्त हमें भी होना चाहिए। यदि अनित्य होगा तो मुक्तावस्था में भी होगा। इस प्रकार भाष्यकार मोक्ष में सुख का प्रत्याख्यान करते हैं।

योगदर्शन में बुद्धि और पुरुष की शुद्धि पर मोक्ष होता है। जब बुद्धि तीनों गुणों के सम्पर्क से छूट जाती है अथवा छूट कर पवित्र हो जाती है उस समय पुरुष में अपने स्वरूप में ठहरने की शक्ति उत्पन्न हो जाती हैं। यही कैवल्य हैं। यह लक्षण जीवनमुक्ति का प्रतीक होता हैं। जब योगी में सत्व, रजस और तमस् आदि गुणों से अपने कारण लीन हो जाते हैं, या पुरुषार्थहीन हो जाते है तब चित्तशक्ति अपने स्वरूप से स्थिर होकर ब्रहम को प्राप्त हो जाती हैं। योगानुसार यही मोक्ष हैं।

सांख्य के अनुसार जब तीनों दुःखों का अत्यन्त नाश हो जाता है तो आत्मा की कृत्यकृत्यता होती हैं। प्रकृति से आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर प्रकृति से आत्मा का सम्बन्ध छूट जाता हैं। जब दुःखों का भी आना–जाना हमेशा के लिए छूट जाता हैं। इस पर आक्षेप किया जा सकता हैं कि दुःख निवृत्ति को न मानकर सुख की प्राप्ति में मोक्ष क्यों न माना जाये। इस आक्षेप का उत्तर यह दिया जा सकता हैं कि जिस प्रकार व्यक्ति को दुःख से द्वेष होता है उसी प्रकार अभिलाषा सुख को प्राप्त करने के लिए नहीं होती संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख पाते हैं। अतएव मनुष्य चाहता है कि दुःख दूर जो जाये।

निष्कर्ष–

वैदिककालीन भावना में इसी मोक्षानन्द के लिए अमृत होना माना जाता था। मोक्ष की भावना वेदों में उपलब्ध अमृत रूप में प्राप्त हैं। यद्यपि उपनिषदों में संसार के पदार्थो में तृप्ति अन्तिम रूप में कहता है कि मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता, धन की इच्छा तो बढ़ती ही रहती है ये विश्व के समस्त भोग्य पदार्थ तो चिरस्थायी नहीं है कल तक रहने वाले है, दूसरा हेतु यह

देता हैं कि ये भोग–भोगी लोगों की इन्द्रियों के तेज को समाप्त कर देते हैं। यह आयु तो अल्प है अतः वह आत्मत्व क्या हैं यह मुझे समझाओं।

उपनिषदों के आलोऽन–विलोऽन करने से यह स्पष्ट होता हैं कि दर्शनों में यह जो दुःखों से छूट कर मोक्ष प्राप्त करने की संभावना प्राप्त होती है उस प्रकार से उपनिषदों में संसार को अधिक दुःखमय संभवत न बताया गया हो क्योंकि मोक्ष शब्द का निर्माण 'गुच् विमोचने' से हुआ है जिसका अर्थ है छूट जाना संभवत : यही कारण रहा है कि मोक्ष शब्द का प्रयोग उपनिषदों में कम मिलता हैं।

संदर्भ–

1. सांख्यकारिका – श्लोक 42, पृ. 203, हंसा प्रकाशन।
2. सांख्यकारिका – पृ. 203, हंसा प्रकाशन
3. गौतमधर्मसूत्र 1/1/21
4. आपस्तम्ब – धर्मसूत्र 1/1/21
5. मनुस्मति द्वितीय अध्याय, श्लोक 6
6. तैत्तिरीयारण्यकम् 10/63, नारायणोपनिषद्
7. चाणक्य सूत्र – 234
8. योगशास्त्र – 4/80
9. योगशास्त्र – 4/96
10. आदिपुराणम् – पर्व 2, श्लोक 37
11. महाभारतम् वेदव्यासकृत् 12/91/15
12. याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय उपोद्घातप्रकरणम् 1/9
13. नीतिवाक्यामृत 2/1
14. चाणक्य सूत्राणि सप्तम् अध्याय 28
15. चाणक्य सूत्र – 6 अ 26
16. चाणक्य सूत्र – 1 अ 2
17. कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, 1/6/1
18. चाणक्य सूत्र – 1 अ 89/90
19. वात्स्यायन कामसूत्र 1/2/10
20. शुक्रनीति – 4 अ 13
21. महाभारतम् शान्तिपर्व – 167/11
22. कौटिल्य अर्थशास्त्र 15/01/2
23. शुक्रनीति – 1/78–79
24. चाणक्य सूत्र – 276–277
25. पारा. स्मृ–5,अ, 184.185
26. महाभारत वनपर्व 33/37
27. महाभारत वनपर्व 33/3
28. बृहदा0 4/3
29. महाभारत शान्तिपर्व 165–166
30. भागवतपुराण 11/5/11
31. भागवतपुराण 11/21/24
32. हितो0 1/43
33. भागवतपुराण 1/2/10
34. श्रीमद्भगवद्गीता 6/17